

श्रीमद्भागवतम् स्कन्ध 3 अध्याय 25: भगवान् कपिल द्वारा भक्ति की महिमा

13 September 2026

🙏 पाठ से पहले एक निवेदन

श्रीमद्भागवत महापुराण के ये अध्यायवार सार गीता प्रेस भागवत को मुख्य आधार मानकर तैयार किए गए हैं। ये भागवत के अध्ययन में सहायक हैं, मूल ग्रंथ का स्थान नहीं ले सकते।

अध्ययन का मुख्य और अनुशंसित मार्ग गीता प्रेस की भागवत पुस्तक से सीधा पाठ है। यात्रा में, घर से दूर, या जब पुस्तक पास न हो, तब निरंतर अध्ययन, पुनरावृत्ति और समझ के लिए इन सारों का सहारा लिया जा सकता है।



बिन्दुसरोवर के तट पर अपनी माता के साथ अकेले, भगवान् कपिल — साक्षात् अजन्मा नारायण, कर्दम और देवहूति के माध्यम से अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अवतरित — मन्द मुस्कान के साथ उस प्रवचन का आरम्भ करते हैं जिसे संसार आगे चलकर “कपिल-गीता” के नाम से जानेगा।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

श्रीमद्भागवतम् विज्ञम में आपका स्वागत है — श्रीमद्भागवत महापुराण की पावन कथाओं और शिक्षाओं की एक भक्तिपूर्ण यात्रा। पिछला अध्याय एक सम्पूर्ण हो चुके गृहस्थ-जीवन के साथ समाप्त हुआ था: कर्दम, अपने ही नवजात पुत्र को साक्षात् भगवान् के रूप में पहचानकर, समर्पण का एक स्तोत्र अर्पित करके वन में भ्रमणशील संन्यासी बनकर चले गए, पिता तथा परिवार के प्रति अपने सभी ऋणों से पूर्णतः मुक्त होकर। बिन्दुसरोवर के तट पर आश्रम में पीछे रह गई देवहूति — और उनका पुत्र, जो साक्षात् कपिल हैं, अजन्मा भगवान् स्वयं, जो केवल संसार को दुःख से परे का मार्ग सिखाने के लिए उनके गर्भ से जन्मे हैं। पच्चीसवाँ अध्याय वहीं है जहाँ वह शिक्षा अन्ततः आरम्भ होती है। यह वस्तुतः गृहस्थ-कथा से भी एक स्तर पीछे से आरम्भ होता है — नैमिषारण्य के महान् यज्ञ-सत्र में ऋषि शौनक द्वारा सूत से कपिल की महिमा के विषय में सब कुछ बताने का अनुरोध किए जाने से, क्योंकि भगवान् के विषय में सुनना कभी भी पर्याप्त नहीं हुआ। सूत तब यह कथा मैत्रेय को सौंपते हैं, जो विदुर को अपनी कथा पुनः आरम्भ करते हैं: कपिल, अपनी माता के साथ अवकाश में बैठे हुए, आध्यात्मिक थकान की एक स्वीकारोक्ति तथा मार्गदर्शन की हृदयस्पर्शी प्रार्थना से मिलते हैं। इसके पश्चात् जो होता है — यहाँ से आरम्भ होकर आगामी अध्यायों में निरन्तर चलता हुआ — वही प्रसिद्ध “कपिल-गीता” है, आत्मा की प्रकृति, योग की साधना, तथा सबसे बढ़कर भक्ति की अतुलनीय महिमा पर भगवान् का अपना व्यवस्थित प्रवचन, जिसे यह अध्याय मुक्ति से भी बढ़कर भगवान् को अधिक प्रिय तथा उन तक पहुँचने का अधिक प्रत्यक्ष मार्ग घोषित करता है।

अध्याय-परिचय

- शास्त्र: श्रीमद्भागवत महापुराण
- स्कन्ध: 3 (तृतीय स्कन्ध)
- अध्याय: 25 (पंचविंश अध्याय)
- अध्याय-शीर्षक: भगवान् कपिल द्वारा माता देवहूति के प्रश्न के उत्तर में भक्ति की महिमा का वर्णन
- मुख्य वक्ता: सूत, नैमिषारण्य के ऋषियों सहित शौनक को कथा सुनाते हुए (श्लोक 1–4); इस ढाँचे के भीतर, मैत्रेय विदुर को अपनी कथा आगे बढ़ाते हैं (श्लोक 5 से आगे)। प्रत्यक्ष वाणी पूर्ण रूप से उद्धृत है — शौनक से सूत को (श्लोक 1–3), देवहूति से कपिल को (श्लोक 7–11 तथा 28–30), तथा कपिल से देवहूति को (श्लोक 13–27 तथा 32–44)
- मुख्य श्रोता: शौनक (बाह्य ढाँचा); विदुर (आन्तरिक ढाँचा); देवहूति (कपिल के अपने प्रवचन के भीतर)
- मुख्य स्थान: बिन्दुसरोवर के तट पर आश्रम, जहाँ कर्दम के वन-गमन के पश्चात् कपिल अपनी माता के साथ रहते हैं
- मुख्य विषय-वस्तु: देवहूति की आध्यात्मिक थकान की स्वीकारोक्ति तथा अज्ञान से परे का मार्ग दिखाए जाने की उनकी प्रार्थना; परम आत्मा के चिन्तन-रूप योग पर कपिल का प्रारम्भिक उत्तर; सन्तों के गुणों तथा उनकी संगति की परिवर्तनकारी शक्ति का उनका वर्णन; भक्ति की वास्तविक प्रकृति जानने हेतु देवहूति का अनुरोध; तथा निष्काम भक्ति की भगवान् की अपनी परिभाषा, जिसे मुक्ति से भी श्रेष्ठ बताया गया है, साथ ही उसे धारण करने वाले भक्तों का उनका वर्णन
- मुख्य श्लोक-सीमा: स्कन्ध 3, अध्याय 25, श्लोक 1–44
- मूल संस्करण: गीता प्रेस श्रीमद्भागवत महापुराण

शौनक को अतृप्त श्रवण-इच्छा

अध्याय आश्रम से नहीं, अपितु नैमिषारण्य वन के महान् यज्ञ-सत्र से आरम्भ होता है, जहाँ सूत सम्पूर्ण भागवत की कथा एकत्रित ऋषियों को सुना रहे हैं। यह एक स्मरण है, जिसे पिछले अध्यायों की गार्हस्थ्य-कथा के मध्य विस्मृत करना सरल है, कि हम जो कुछ भी पढ़ रहे हैं वह स्वयं परत-दर-परत कही तथा पुनः कही जा रही है, क्योंकि भगवान् की कथा उन लोगों की भूख को कभी समाप्त नहीं करती जो उसे सुनना पसन्द करते हैं।

शौनक ने कहा: “कपिल, जिन्होंने मूल तत्त्वों की वास्तविक प्रकृति का प्रतिपादन किया, वे साक्षात् अजन्मा भगवान् (नारायण) ही थे, जो मानवता को आत्मा के सत्य की शिक्षा देने हेतु अपनी स्वतन्त्र इच्छा से तथा अपनी ही माया (अद्भुत सृजनात्मक शक्ति) के माध्यम से अवतरित हुए। (श्लोक 1) यद्यपि मैंने भगवान् की कथाएँ कई बार सुनी हैं, फिर भी मेरी इन्द्रियाँ भगवान् कपिल — जो समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ तथा समस्त योगियों में अग्रगण्य हैं — की महिमा सुनने से तृप्त नहीं होतीं। (श्लोक 2) अपनी ही माया से अपने भक्तों की इच्छा के अनुरूप एक व्यक्तित्व धारण करके, भगवान् जो कुछ भी करते हैं वह सब गाने योग्य है। अतः, कृपया मुझे — जो श्रद्धा से परिपूर्ण हूँ — उन सब कर्मों का वर्णन कीजिए।” (श्लोक 3)

सूत ने कहा: इस प्रकार मूल तत्त्वों की वास्तविक प्रकृति का प्रतिपादन करने हेतु अनुरोध किए जाने पर, पूजनीय मैत्रेय — ऋषि द्वैपायन (वेदव्यास) के मित्र — ने विदुर की जिज्ञासा की भावना के अनुरूप उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया। (श्लोक 4)

शौनक की इस स्वीकारोक्ति में कुछ हृदयस्पर्शी है कि भागवत की कथाएँ कई बार सुनने के पश्चात् भी उनकी इन्द्रियाँ “तृप्त नहीं” हैं। यह आगे आने वाले सम्पूर्ण अध्याय का स्वर निर्धारित करता है: यह अध्याय एक बार पढ़ी जाकर सुरक्षित रख दी जाने वाली नई सूचना नहीं है, अपितु बार-बार लौटने योग्य एक शिक्षा है, ठीक वैसे ही जैसे कोई अपने प्रियजन की उपस्थिति में बार-बार लौटता है, बिना कभी यह अनुभव किए कि वह चुक गई है।



नैमिषारण्य वन के यज्ञ-सत्र में, ऋषि शौनक स्वीकार करते हैं कि उनकी इन्द्रियाँ भगवान् कपिल की महिमा सुनने से कभी तृप्त नहीं होतीं, और सूत से उनके सभी कर्मों का वर्णन करने का अनुरोध करते हैं (श्लोक 1-3)।

माता को प्रसन्न करने हेतु कपिल का ठहराव

बाह्य ढाँचा स्थापित होने के पश्चात्, मैत्रेय की कथा हमें बिन्दुसरोवर के तट पर आश्रम में वापस ले आती है, जहाँ कर्दम अभी-अभी प्रस्थान कर चुके हैं और कपिल अकेले शेष रहते हैं।

मैत्रेय ने कहा: जब कर्दम (भगवान् कपिल के पिता) वन के लिए प्रस्थान कर चुके, तब भगवान् कपिल अपनी माता (देवहूति) को प्रसन्न करने हेतु उसी बिन्दुसरोवर के तट पर (पिता के आश्रम में) ही रुक गए। (श्लोक 5) (एक दिन) जब कपिल (देवहूति के पुत्र), जो उन्हें मूल तत्त्वों की चरम सीमा दिखाने में समर्थ थे, अवकाश में बैठे थे, तब देवहूति को ब्रह्मा के वचन (पूर्ववर्ती अध्याय के श्लोक 18 के अनुसार) स्मरण हो आए और उन्होंने उनसे इस प्रकार कहा। (श्लोक 6)

“अपनी माता को प्रसन्न करने हेतु” इस वाक्यांश पर रुककर विचार करने योग्य है। यहाँ भगवान् के रुकने का कारण किसी भव्य ब्रह्माण्डीय शब्दों में नहीं बताया गया है — इसे पुत्र की स्नेहमयी भावना के रूप में बताया गया है, एक पुत्र जो अपने पिता के तुरन्त संन्यास ग्रहण करने के स्थान पर अपनी माता के निकट रहना चुनता है। आगे आने वाली शिक्षा विस्तार में विशाल होगी, सम्पूर्ण साङ्ख्य दर्शन तथा योग और भक्ति की साधना को समाहित करते हुए, फिर भी इसका अवसर यह सरल, आत्मीय तथ्य है: एक माता, जिसे ब्रह्मा द्वारा अपने पुत्र के विषय में कही गई बात स्मरण हो आती है, अन्ततः वह साहस पाती है कि अपने पुत्र से वही माँगे जिसकी उसे वास्तव में आवश्यकता है।

देवहूति की स्वीकारोक्ति

आगे देवहूति जो कहती हैं वह अपनी सच्चाई के लिए उल्लेखनीय है। वे विस्तृत स्तुति या दार्शनिक प्रश्नों से आरम्भ नहीं करतीं; वे अपनी ही आध्यात्मिक थकान को सरलतम शब्दों में नाम देकर आरम्भ करती हैं।

देवहूति ने कहा: “हे परिपूर्ण! मैं अपनी दुष्ट इन्द्रियों की (भोग की) लालसा से पूर्णतः रुग्ण हो चुकी हूँ। हे भगवन्, इसी लालसा को तृप्त करने के अपने अथक प्रयासों के कारण ही मैं अज्ञान की गहरी खाई में गिर पड़ी हूँ। (श्लोक 7) इस वर्तमान जन्म में, जो (मुझे विश्वास है) एक दीर्घ शृंखला का अन्तिम जन्म होगा, मैंने अब, आपकी कृपा से, आपमें एक उत्कृष्ट नेत्र प्राप्त कर लिया है जो मुझे अन्धकार के इस घने आवरण के पार देखने में सक्षम बनाता है, जिसे भेदना अत्यन्त कठिन है। (श्लोक 8) आप और कोई नहीं, अपितु स्वयं भगवान्, सर्वाधिक प्राचीन पुरुष तथा समस्त देहधारी आत्माओं के शासक हैं, जो सूर्य की भाँति अज्ञान से अन्धे हुए संसार के लिए एक नेत्र के रूप में प्रकट हुए हैं। (श्लोक 9) अब, हे प्रभु, कृपया मेरे महान् मोह को दूर करें; क्योंकि शरीर के प्रति ‘मैं’ की तथा उससे सम्बन्धित सब कुछ के प्रति ‘मेरा’ की जो भावना है, वह आपके ही द्वारा प्रेरित है। (श्लोक 10) प्रकृति (जड़) तथा पुरुष (चेतन) की वास्तविक प्रकृति को जानने के लिए मैंने आपकी शरण ली है, जो सबकी रक्षा करते हैं तथा जो अपने भक्तों के लिए संसार-वृक्ष को काटने वाली एक सच्ची कुल्हाड़ी हैं। मैं आपको, जो सच्चे धर्म के रहस्य को जानने वालों में अग्रगण्य हैं, प्रणाम करती हूँ।” (श्लोक 11)

इस स्वीकारोक्ति में कोई आत्म-दया नहीं है, केवल स्पष्टता है। देवहूति अपनी स्थिति को नाम देती हैं — इन्द्रिय-लालसा से रुग्ण, अपने ही अथक प्रयास से अज्ञान में गिरी — बिना किसी बहाने के, और फिर, उसी श्वास में, यह पहचानती हैं कि उनका अपना पुत्र ही वह नेत्र है जिससे उस अन्धकार को भेदा जा सकता है। यह एक माता का अपने बालक की ओर सामान्य अर्थ में सान्त्वना के लिए नहीं, अपितु सान्त्वना से भी बड़ी वस्तु के लिए मुड़ना है: वह सत्य जो भविष्य में सान्त्वना की समस्त आवश्यकता को समाप्त कर देता है।



देवहूति इन्द्रियों की लालसा तथा उनसे उत्पन्न अज्ञान के प्रति अपनी थकान स्वीकार करती हैं, अपने ही पुत्र में उस नेत्र को पहचानते हुए जिससे अन्धकार का आवरण अन्ततः भेदा जा सकता है (श्लोक 7-11)।

भगवान् की मुस्कान, तथा योग की प्रकृति

कपिल का उत्तर शब्दों से नहीं, अपितु एक भाव-भंगिमा से आरम्भ होता है — एक विवरण जिसे मैत्रेय सावधानीपूर्वक सुरक्षित रखते हैं।

मैत्रेय ने आगे कहा: अपनी माता की निष्कपट इच्छा सुनकर, जो मनुष्यों में मुक्ति की लालसा जगाने हेतु सुनियोजित थी, भगवान् — जो आत्म-संयमी उदार आत्माओं का लक्ष्य हैं — ने मन ही मन उसका अनुमोदन किया तथा अपने मुखमण्डल पर एक मन्द मुस्कान बिखेरते हुए इस प्रकार बोले। (श्लोक 12)

भगवान् ने कहा: “मेरे विचार में परम कल्याण का एकमात्र साधन परम आत्मा के चिन्तन-रूप योग है, जिसकी विशेषता हर्ष तथा शोक दोनों की पूर्ण समाप्ति है। (श्लोक 13) मैं अब तुम्हें वही योग समझाऊँगा, जो हर अंग में परिपूर्ण है, तथा जिसे मैंने पूर्वकाल में उन ऋषियों (जैसे नारद) को सिखाया था जो उसे सुनने के लिए उत्सुक थे, हे सती नारी। (श्लोक 14) मन ही आत्मा के बन्धन तथा मुक्ति दोनों के लिए उत्तरदायी है। इन्द्रियों के विषयों से आसक्त होने पर यह बन्धन की ओर ले जाता है; जब, इसके विपरीत, यह परम पुरुष के प्रति आसक्ति विकसित करता है, तो यह आत्मा को मुक्ति प्रदान करता है। (श्लोक 15) जब मन काम, लोभ आदि की अशुद्धियों से — जिनका मूल ‘मैं’ तथा ‘मेरा’ की भावना में है — शुद्ध हो जाता है और निर्मल बनता है, तो यह सुख तथा दुःख के प्रति उदासीन होकर समभाव को प्राप्त होता है। (श्लोक 16) सच्चे ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति से युक्त मन के साथ, जीव तब आत्मा को एक (अद्वितीय), अभिन्न, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अविभाज्य, अनासक्त तथा प्रकृति (जड़) से परे के रूप में अनुभव करता है, और प्रकृति को शक्ति में क्षीण हुआ अनुभव करता है। (श्लोक 17-18) प्रयत्नशील आत्माओं के लिए भगवान् की ओर निर्देशित भक्ति के समान, जो विश्व की आत्मा हैं, ईश्वर-साक्षात्कार का कोई अन्य आनन्दमय मार्ग नहीं है। (श्लोक 19) ज्ञानीजन आसक्ति को आत्मा के लिए एक अटूट बन्धन मानते हैं। किन्तु वही आसक्ति, जब सन्तों की ओर निर्देशित होती है, तो मुक्ति के लिए खुला द्वार बन जाती है।” (श्लोक 20)

भगवान् के प्रारम्भिक उत्तर की संरचना पर ध्यान दें: वे योग से आरम्भ करते हैं, जिसे सरलतः हर्ष तथा शोक दोनों से परे के चिन्तन के रूप में परिभाषित किया गया है; वे आत्मा के बन्धन तथा मुक्ति के सम्पूर्ण नाटक को संसार में नहीं, अपितु मन में ही स्थापित करते हैं; और फिर, श्लोक 19 में एक ही कुशल मोड़ में, वे भक्ति को — केवल ध्यान-रूप योग को नहीं — सर्वाधिक आनन्दमय मार्ग के रूप में नाम देते हैं।

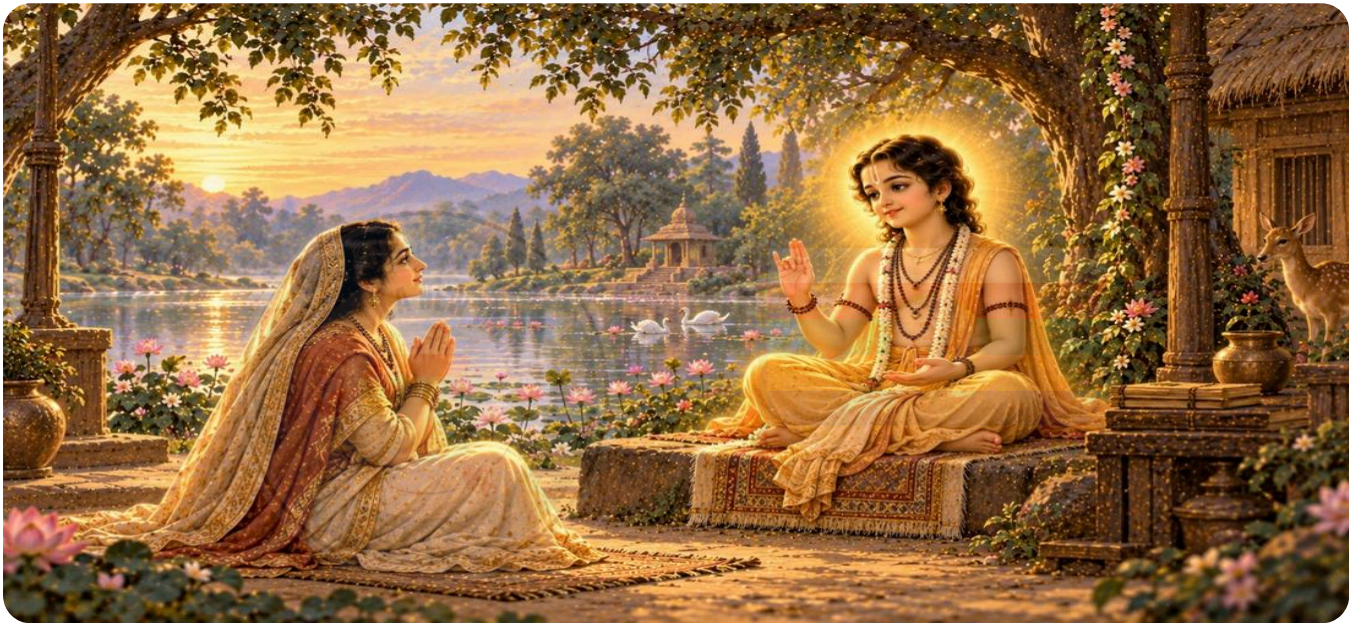
देवहूति द्वारा अपना पूर्ण प्रश्न पूछे जाने से पहले ही अध्याय का वास्तविक विषय स्वयं को घोषित कर चुका है।

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।

सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥ १९ ॥

na yujyamānayā bhaktyā bhagavaty akhilātmani sadṛśo 'sti śivaḥ panthā yoginām brahma-siddhaye

अर्थ: प्रयत्नशील आत्माओं के लिए, विश्व की आत्मा भगवान् की ओर निर्देशित भक्ति के समान ईश्वर-साक्षात्कार का कोई अन्य आनन्दमय मार्ग नहीं है। (स्कन्ध 3, अध्याय 25, श्लोक 19)



अपने मुखमण्डल पर मन्द मुस्कान बिखेरते हुए, भगवान् कपिल देवहूति को अपना प्रवचन आरम्भ करते हैं — योग को हर्ष तथा शोक से परे के चिन्तन के रूप में परिभाषित करते हुए, तथा भक्ति को ईश्वर-साक्षात्कार का सर्वाधिक आनन्दमय मार्ग घोषित करते हुए (श्लोक 12–20)।

सन्तों की संगति

भक्ति को सर्वोच्च मार्ग बताने के पश्चात्, भगवान् तुरन्त उस प्रश्न की ओर मुड़ते हैं जो स्वाभाविक रूप से आगे आता है: व्यवहार में, ऐसी भक्ति किस प्रकार विकसित की जाए? उनका उत्तर एक भ्रामक रूप से साधारण वस्तु पर केन्द्रित है — जिस संगति में कोई रहता है।

सन्त सहनशील, दयालु तथा शान्त होते हैं; वे समस्त प्राणियों के मित्र होते हैं और किसी के भी शत्रु नहीं, तथा शास्त्रों की आज्ञाओं का पालन करते हैं। उनका सद्गुण-स्वभाव ही उनके लिए एक आभूषण का कार्य करता है। (श्लोक 21) अखण्ड हृदय से वे मेरी प्रति अटूट भक्ति का अभ्यास करते हैं; तथा मेरे लिए वे अपने कर्तव्यों को भी त्याग देते हैं तथा अपने कुटुम्बियों और सम्बन्धियों को भी छोड़ देते हैं। (श्लोक 22) वे मेरी मनोहर कथाओं को सुनते तथा सुनाते हैं, उनका मन सदैव मुझमें ही स्थिर रहता है। इसीलिए ऐसे लोगों को नाना प्रकार के क्लेश कभी सताते नहीं। (श्लोक 23) हे सती नारी, ऐसे ही पवित्र पुरुष हैं, जो समस्त आसक्ति से मुक्त हैं। तुम्हें ऐसे ही पवित्र पुरुषों के प्रति आसक्ति खोजनी चाहिए; क्योंकि वे आसक्ति के हानिकारक प्रभावों का प्रतिकार करते हैं। (श्लोक 24) सन्तों की संगति के माध्यम से मेरी कथाएँ सुनने

को मिलती हैं, जो मेरी महिमा के सही तथा सम्पूर्ण ज्ञान की ओर ले जाती हैं तथा हृदय एवं कान दोनों को प्रसन्न करने वाली हैं। ऐसी कथाएँ सुनकर व्यक्ति निश्चित रूप से भगवान् के प्रति एक के बाद एक श्रद्धा, स्नेह तथा भक्ति विकसित करता है, जिसका साक्षात्कार अज्ञान की समाप्ति से पूर्व होता है। (श्लोक 25) इस संसार तथा परलोक दोनों के इन्द्रिय-सुखों के प्रति अरुचि विकसित करते हुए, सृष्टि, पालन तथा प्रलय से सम्बन्धित मेरी लीलाओं के चिन्तन से उत्पन्न भक्ति के माध्यम से, जो व्यक्ति सन्तों की संगति का आनन्द लेता है वह योग (भक्ति) की सरल प्रक्रियाओं द्वारा अपने मन को वश में करने का परिश्रमपूर्वक तथा भक्तिपूर्वक प्रयास करेगा। (श्लोक 26) इन्द्रिय-विषयों के त्याग द्वारा, वैराग्य-सहित ज्ञान द्वारा, योग (मन की एकाग्रता) द्वारा तथा मेरी ओर निर्देशित भक्ति द्वारा, मनुष्य उसी जीवन में मुझे — समस्त देहधारी आत्माओं की आत्मा को — प्राप्त कर लेता है। (श्लोक 27)

यहाँ एक विरोधाभास पर विचार करने योग्य है: भगवान् ने अभी-अभी आसक्ति को “आत्मा के लिए एक अटूट बन्धन” कहा है — और फिर, अगले ही श्वास में, वे सन्तों के प्रति आसक्ति को “मुक्ति के लिए खुला द्वार” कहते हैं। आसक्ति, दूसरे शब्दों में, स्वयं में निन्दित नहीं है; उसे पुनर्निर्देशित किया जाता है। हृदय की वही क्षमता जो किसी व्यक्ति को सांसारिक वस्तुओं से बाँधती है, जब उन लोगों की ओर मोड़ी जाती है जिनके हृदय पहले से भगवान् में स्थिर हैं, तो वही मुक्ति का साधन बन जाती है। यही कारण है कि सन्तों की संगति भगवान् की शिक्षा के सात पूर्ण श्लोकों को घेरती है — यह दर्शन में जोड़ा गया कोई छोटा-सा व्यावहारिक सुझाव नहीं, अपितु उसके केन्द्रीय तंत्रों में से एक है।

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।

अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥ २१ ॥

titikṣavaḥ kārūṇikāḥ suhṛdaḥ sarva-dehinām ajāta-śatravaḥ śāntāḥ sādharmaḥ sādhu-bhūṣaṇāḥ

अर्थ: सन्त सहनशील तथा दयालु होते हैं, समस्त देहधारी प्राणियों के हितैषी, शत्रु-रहित, शान्त, तथा अपने ही सदाचार से आभूषित होते हैं। (स्कन्ध 3, अध्याय 25, श्लोक 21)



कपिल उन सहनशील, दयालु सन्तों का वर्णन करते हैं जिनकी संगति — त्यागी नहीं, अपितु पुनर्निर्देशित आसक्ति — मुक्ति का खुला द्वार तथा भक्ति की स्वाभाविक बीज-भूमि बन जाती है (श्लोक 21-27)।

देवहूते का सम्पूर्ण प्रश्न

इतना सुनने के पश्चात्, देवहूति की प्रतिक्रिया सन्तोष नहीं, अपितु एक अधिक स्पष्ट भूख है। वे न केवल यह जानना चाहती हैं कि भक्ति सर्वोच्च मार्ग है, अपितु यह भी कि उसमें वास्तव में क्या समाहित है तथा व्यावहारिक रूप से वे स्वयं उस पर कैसे चल सकती हैं।

देवहूति ने कहा: “आपके प्रति किस प्रकार की भक्ति विकसित करने योग्य है, तथा मेरे द्वारा अभ्यास किए जाने योग्य वह कौन-सा प्रकार है, जिसके माध्यम से मैं आपके स्वरूप को — जो मुक्ति का पर्याय है — सरलता तथा शीघ्रता से प्राप्त कर सकूँ? (श्लोक 28) हे परम आनन्द के स्वरूप, आपके द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार तथा सत्य के साक्षात्कार के प्रत्यक्ष साधन (लक्ष्य की ओर सीधे जाने वाले बाण के समान) के रूप में उल्लिखित उस योग (साधना) की क्या विशेषता है; तथा उसके सहायक प्रक्रियाएँ कितनी हैं? (श्लोक 29) हे हरि, कृपया मुझे यह सब इस प्रकार समझाइए कि मैं — एक मन्दबुद्धि नारी — आपकी कृपा से इस कठिन प्रक्रिया को सरलता से समझ सकूँ।” (श्लोक 30)

मैत्रेय ने आगे कहा: अपनी माता (देवहूति) — जिनके माध्यम से वे मानव-रूप में प्रकट हुए थे — का अभिप्राय इस प्रकार जानकर, भगवान् कपिल उनके प्रति स्नेह से भरकर उस दर्शन-प्रणाली का प्रतिपादन करने लगे जो मूल तत्त्वों (जैसे प्रकृति, पुरुष इत्यादि) की शिक्षा देती है और जिसे साङ्ख्य कहते हैं, तथा साथ ही भक्ति और योग (ध्यान की प्रक्रिया तथा मन को वश में करने की अन्य विधियों) के विस्तृत मार्ग का भी। (श्लोक 31)

देवहूति का स्वयं को “मन्दबुद्धि नारी” कहना, निःसन्देह, शाब्दिक तथ्य के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए — यह वही देवहूति हैं जिन्होंने केवल एक अध्याय पूर्व भगवान् के अवतरण हेतु वर्षों अनुशासित आराधना में प्रतीक्षा की थी, तथा जिन्होंने अभी-अभी अपने ही बन्धन की एक दार्शनिक रूप से सटीक स्वीकारोक्ति दी है। यह वास्तव में शिक्षक के समक्ष सच्ची विनम्रता की मुद्रा है: पहले से समझने का दिखावा किए बिना, आरम्भ से ही सीखने की इच्छा। और यही मुद्रा है, किसी तर्क से अधिक, जो उनके पुत्र से एक साधारण उत्तर नहीं अपितु “स्नेह से भरा” एक प्रवचन खींच लाती है।

निष्काम भक्ति: मुक्ति से भी श्रेष्ठ

आगे जो आता है वह अध्याय का दार्शनिक केन्द्र है, तथा सम्पूर्ण भागवत में भक्ति की सर्वाधिक प्रसिद्ध परिभाषाओं में से एक है।

भगवान् ने कहा: “भगवान् के प्रति निष्काम भक्ति को उस स्वाभाविक झुकाव के रूप में परिभाषित किया जा सकता है — सत्त्व (शुद्धता) के स्वरूप भगवान् की ओर — जो अखण्ड मन वाले पुरुष की इन्द्रियों का होता है, जो वस्तुओं को जानने का एकमात्र साधन हैं, तथा उसके कर्मेन्द्रियों का भी, जो वेदों द्वारा विहित कर्मों में संलग्न हैं। भक्ति (जैसा ऊपर परिभाषित है) परम कल्याण से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि यह सूक्ष्म शरीर को शीघ्रता से विलीन कर देती है, ठीक वैसे ही जैसे जठराग्नि खाए गए भोजन को पचा देती है।” (श्लोक 32-33)

यह एक चौंकाने वाला दावा है, और अध्याय इसे कोमल नहीं बनाता: भक्ति केवल मुक्ति का साधन नहीं है, जो इसलिए उपयोगी हो कि वह कहीं और ले जाती है — इसे स्वयं मुक्ति से भी श्रेष्ठ घोषित किया गया है, उस पूर्णता तथा सरलता के कारण जिससे यह सूक्ष्म शरीर को विलीन करती है, जो जन्म-मृत्यु के माध्यम से आत्मा के निरन्तर भ्रमण की वास्तविक सीट है, ठीक वैसे ही जैसे पाचन-अग्नि उसमें रखी वस्तु को भस्म कर देती है।

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
 सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ।
 अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ॥ ३२ ॥
 जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥ ३३ ॥

devānām guṇa-liṅgānām ānuśravika-karmaṇām sattva evaika-manaso vṛttiḥ svābhāvikī tu yā animittā bhāgavatī bhaktiḥ siddher garīyasī jarayaty āśu yā kośam nigīrṇam analo yathā

अर्थ: अखण्ड मन का सत्त्व-स्वरूप भगवान् की ओर स्वाभाविक, निष्काम झुकाव — यह भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि यह सूक्ष्म शरीर को उतनी ही शीघ्रता से विलीन कर देती है जितनी शीघ्रता से अग्नि भस्म किए गए पदार्थ को पचा लेती है। (स्कन्ध 3, अध्याय 25, श्लोक 32-33)



कपिल निष्काम भक्ति को परिभाषित करते हैं — इन्द्रियों तथा मन का भगवान् की ओर स्वाभाविक, अखण्ड झुकाव — जिसे मुक्ति से भी श्रेष्ठ बताया गया है, जो सूक्ष्म शरीर को उतनी ही सहजता से विलीन कर देती है जितनी सहजता से अग्नि अर्पित वस्तु को भस्म करती है (श्लोक 32-33)।

वे भक्त जिन्हें कुछ नहीं चाहिए, स्वयं में विलय भी नहीं

भक्ति की परिभाषा देने के पश्चात्, भगवान् अब उन दुर्लभ आत्माओं का वर्णन करते हैं जो उसे अपने पूर्णतम रूप में धारण करती हैं — और उनका वर्णन एक ऐसे साहसिक दावे में परिणत होता है जो सम्पूर्ण आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य को ही पुनर्परिभाषित कर देता है।

भगवान् के कुछ भक्त — जो सदैव मेरे चरणों की सेवा में आनन्दित रहते हैं तथा केवल मेरे लिए ही कर्मों में संलग्न रहते हैं, तथा जो प्रेमपूर्वक एक-दूसरे को केवल मेरी लीलाओं का ही गान सुनाते हैं — वे मेरे स्वरूप में विलय की भी लालसा नहीं करते। (श्लोक 34) हे माता, वे पूर्वोक्त सन्त मेरे मनोहर तथा दिव्य स्वरूपों को — मुस्कुराते मुखमण्डल तथा लाल नेत्रों वाले, वरदान देने वाले स्वरूपों को — देखते हैं तथा उनसे वार्तालाप करते हैं, जो सबसे महान् ऋषियों के लिए भी ईर्ष्या का विषय है। (श्लोक 35) उनकी भक्ति उन्हें, बिना उसकी खोज किए ही, मेरे

सूक्ष्म धाम में (स्थान) सुनिश्चित करती है, उनका मन तथा इन्द्रियाँ उन आकर्षक अंगों वाले स्वरूपों से, मोहक क्रीड़ामय संकेतों से, मुस्कान-सहित दृष्टियों से तथा मनोहर वाणी से मोहित होते हैं। (श्लोक 36) वे अब सत्यलोक (सर्वोच्च स्वर्ग) तथा माया के स्वामी के रूप में मेरे अधिकार-क्षेत्र में आने वाले अन्य लोकों के धन-सम्पदा एवं भोगों की लालसा नहीं करते, न ही भक्ति के परिणामस्वरूप स्वयं आने वाली आठ प्रकार की अलौकिक सिद्धियों की, न ही स्वयं भगवान् के धाम (वैकुण्ठ) की धन-सम्पदा एवं वैभव की, जो हर दृष्टि से परिपूर्ण है; फिर भी वे उस परम धाम में इन सबका भोग करते हैं। (श्लोक 37) जो मुझ पर निर्भर हैं, वरन् जिनके लिए मैं ही एकमात्र प्रेम का विषय हूँ, वरन् स्वयं आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, कुटुम्ब तथा आराध्य देव हूँ, वे वैकुण्ठ (जो शुद्ध सत्त्व से बना है) के इन भोगों से कभी वंचित नहीं होते; न ही समय-रूपी मेरा शस्त्र उन्हें कभी निगलता है। (श्लोक 38)

श्लोक 34 का दावा दो बार पढ़ने योग्य है: ये भक्त “मेरे स्वरूप में विलय की भी लालसा नहीं करते” — अर्थात्, वे उस भगवान् में विलीन होने की भी इच्छा नहीं रखते जिसे अनेक परम्पराएँ सर्वोच्च सम्भावित प्राप्ति मानती हैं। इसके स्थान पर वे सम्बन्ध चाहते हैं: सेवा, वार्तालाप, मुस्कुराते मुखमण्डल का दर्शन। और ठीक इसीलिए, क्योंकि वे अपने लिए कुछ भी नहीं चाहते, यहाँ तक कि अपने सर्वाधिक उत्कृष्ट रूप में मुक्ति भी नहीं, सब कुछ — भगवान् का अपना धाम, उनके भोग, यहाँ तक कि स्वयं समय की निगलने वाली शक्ति से मुक्ति भी — बिना खोजे ही उन्हें प्राप्त हो जाता है।

यहाँ एक ऐसा सिद्धान्तिक दावा छिपा है जिसे सरसरी दृष्टि से पढ़कर आगे बढ़ जाना सरल है। यह अध्याय भक्ति को मुक्ति से केवल इस अर्थ में श्रेष्ठ नहीं ठहराता कि वह एक ही गन्तव्य तक पहुँचने का तेज़ मार्ग है, जैसे एक धीमे मार्ग की तुलना में तेज़ मार्ग श्रेष्ठ माना जाता है — यह आध्यात्मिक जीवन के शिखर को ही पुनः स्थापित कर देता है। जो मार्ग भगवान् में विलय को ही अन्तिम शब्द मानता है, उसे श्लोक 34 के उन भक्तों को अपूर्ण, अभी भी लक्ष्य से दूर मानना होगा, क्योंकि वे ठीक इसी विलय को अस्वीकार करते हैं। यह अध्याय इसके विपरीत कहता है: भगवान् में विलीन न होने की उनकी अनिच्छा कोई कमी नहीं, अपितु उनकी पूर्णता का ही चिह्न है, क्योंकि यह उस एक वस्तु को सुरक्षित रखती है जो विलय कभी नहीं दे सकता — एक प्रियतम, जिसकी सेवा की जाए, जिससे वार्तालाप किया जाए, जिसका दर्शन किया जाए (श्लोक 33-34)। दूसरे शब्दों में, भक्ति को यहाँ किसी निराकार लक्ष्य तक पहुँचने की सबसे तीव्र विधि के रूप में नहीं, अपितु उस क्षितिज से परे एक साकार, सम्बन्ध-युक्त लक्ष्य को प्रकट करने वाली वस्तु के रूप में दर्शाया गया है — वह लक्ष्य जिसे केवल मुक्ति कभी स्वयं नहीं छू सकती थी।



भगवान् उन भक्तों का वर्णन करते हैं जो अपने लिए कुछ नहीं चाहते — यहाँ तक कि अपने स्वरूप में विलय भी नहीं — फिर भी जो उनके मुस्कुराते, दिव्य स्वरूप का दर्शन करते हैं तथा समय की निगलने वाली शक्ति से कभी स्पर्शित नहीं होते (श्लोक 34-38)।

मृत्यु से परे, भय से परे

अध्याय का समापन-प्रवाह भक्तों के गुणों से आगे बढ़कर उस ब्रह्माण्डीय व्यापकता की ओर विस्तृत होता है जिसे ऐसी भक्ति अन्ततः सिद्ध करती है — मृत्यु से मुक्ति से कम कुछ नहीं, तथा यह पहचान कि भय स्वयं इस सृष्टि व्यवस्था का इंजन है।

जो लोग इस पूर्वोक्त प्रकार से मुझे अनन्य भक्ति के साथ पूजते हैं, प्रत्येक दिशा में मेरी उपस्थिति का अनुभव करते हुए तथा इस संसार तथा परलोक दोनों का त्याग करते हुए, वरन् अपने ही अवस्थित आत्मा (सूक्ष्म शरीर के रूप में) का भी त्याग करते हुए, जो दोनों में भटकती है, तथा यहाँ से जुड़ी हर वस्तु का भी (अर्थात् अपने निकटतम और प्रियजनों का) तथा (अपनी सम्पत्तियों जैसे) धन, पशु, घर तथा अन्य सब कुछ का भी त्याग करते हुए — उन सबको मैं एक ही बार में मृत्यु के उस पार (जन्म-मृत्यु के सागर के पार) ले जाता हूँ। (श्लोक 39-40) जन्म-मृत्यु का भयंकर भय मेरे अतिरिक्त किसी अन्य की शरण लेने से कभी दूर नहीं हो सकता, मुझ सर्वशक्तिमान् भगवान् की, जो प्रकृति तथा पुरुष (जड़ तथा चेतन) दोनों के शासक तथा समस्त प्राणियों की आत्मा हैं। (श्लोक 41) मेरे ही भय से वायु बहती है; मेरे ही भय से सूर्य चमकता है; मेरे ही भय से इन्द्र (वर्षा के देवता) वर्षा भेजते हैं, अग्नि जलती है तथा मृत्यु (अपना कर) वसूल करने घूमती है। (श्लोक 42) स्थायी सुख के लिए योगीजन (प्रयत्नशील आत्माएँ) ज्ञान तथा वैराग्य-सहित भक्ति के अभ्यास द्वारा मेरे उन चरणों की शरण लेते हैं, जो (हर प्रकार के) भय से रहित हैं। (श्लोक 43) भक्ति के गहन अभ्यास द्वारा मुझमें स्थिर किया गया मन — वही इस संसार में मनुष्यों के लिए परम कल्याण प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। (श्लोक 44)

श्लोक 42 सम्पूर्ण भागवत में सर्वाधिक उद्धृत बिम्बों में से एक है: वायु बहती है, सूर्य चमकता है, वर्षा गिरती है, अग्नि जलती है, तथा स्वयं मृत्यु अपना चक्कर लगाती है — यह सब “मेरे भय से।” यह एक ऐसे ब्रह्माण्ड की दृष्टि है जो केवल निर्वैयक्तिक नियम से नहीं, अपितु अपने ही स्रोत के प्रति श्रद्धा से पूर्ण, व्यवस्थित गति में स्थित है, जिसमें सर्वाधिक मौलिक तथा अनिवार्य शक्तियाँ भी, अन्ततः, आज्ञापालन के ही रूप हैं। और ठीक इसीलिए, क्योंकि भगवान् स्वयं उस भय से परे खड़े हैं — उनके अपने चरणों को “हर प्रकार के भय से रहित” बताया गया है — केवल उन्हीं की ओर निर्देशित भक्ति ही एक आत्मा को उसके पार ले जा सकती है।

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥ ४४ ॥

etāvān eva loke 'smin puṁsāṁ niḥśreyasodayaḥ tīvrena bhakti-yogena mano mayy arpitaṁ sthīram

अर्थ: इस संसार में मनुष्यों द्वारा प्राप्त करने योग्य परम कल्याण यही मात्र है — भक्ति-योग के गहन अभ्यास द्वारा मुझमें स्थिरतापूर्वक स्थिर किया गया मन। (स्कन्ध 3, अध्याय 25, श्लोक 44)

इस एक श्लोक के साथ, “भगवान् कपिल की कथा” का प्रवाह निर्णायक रूप से कथा से शिक्षा की ओर मुड़ जाता है। कर्दम तथा देवहूति का गार्हस्थ्य-नाटक, अग्नि तथा काष्ठ के माध्यम से अवतरण, ब्रह्मा का आगमन, नौ विवाह, एक पिता का संन्यास — यह सब यहीं तक ले जाने के लिए था, इस शान्त घोषणा तक कि भक्ति द्वारा भगवान् में स्थिरतापूर्वक स्थिर किया गया मन ही, अन्ततः, आवश्यक सब कुछ है।

इस अध्याय को प्रमुख शिक्षाएँ

1. भगवान् के विषय में सुनना कभी वास्तव में पर्याप्त नहीं होता। शौनक की यह स्वीकारोक्ति कि बार-बार सुनने के पश्चात् भी उनकी इन्द्रियाँ “तृप्त नहीं” हैं, सम्पूर्ण प्रवचन का स्वर निर्धारित करती है — भक्ति एक बार उपभोग की जाने वाली सूचना नहीं, अपितु अनन्त बार लौटने योग्य एक सम्बन्ध है (श्लोक 1-2)।
2. सुसज्जित स्तुति नहीं, अपितु ईमानदार स्वीकारोक्ति ही शिक्षा का द्वार खोलती है। देवहूति दार्शनिक प्रश्नों से नहीं, अपितु अपनी ही थकान तथा अज्ञान की स्पष्ट स्वीकृति से आरम्भ करती हैं — और यही ईमानदारी है, वाक्पटुता नहीं, जो भगवान् के प्रवचन को बाहर खींच लाती है (श्लोक 7-11)।
3. मन ही बन्धन तथा मुक्ति दोनों का स्थल है। भगवान् आत्मा की बन्दी-दशा तथा मुक्ति के सम्पूर्ण नाटक को परिस्थितियों या बाह्य संसार में नहीं, अपितु इसमें स्थापित करते हैं कि मन इन्द्रिय-विषयों से आसक्त है या परम पुरुष की ओर मुड़ा हुआ है (श्लोक 15)।
4. आसक्ति शत्रु नहीं है — दिशाहीन आसक्ति शत्रु है। हृदय की वही क्षमता जो एक आत्मा को संसार से बाँधती है, सन्तों की संगति की ओर पुनर्निर्देशित होने पर, “मुक्ति के लिए खुला द्वार” बन जाती है (श्लोक 20)।
5. भक्ति को मुक्ति से भी श्रेष्ठ घोषित किया गया है। निष्काम भक्ति की भगवान् की अपनी परिभाषा उसे परम कल्याण से भी ऊपर रखती है, क्योंकि वह उस सूक्ष्म शरीर को कितनी शीघ्रता तथा पूर्णता से विलीन कर देती है जो आत्मा को बार-बार जन्म-मृत्यु में ले जाता है (श्लोक 32-33)।
6. सर्वोच्च भक्त सम्बन्ध चाहते हैं, विलय भी नहीं। भगवान् को सर्वाधिक प्रिय वे भक्त उनके स्वरूप में विलय नहीं चाहते — वे केवल सेवा करना, वार्तालाप करना तथा उनके स्वरूप का दर्शन करना चाहते हैं — और ठीक इसीलिए, क्योंकि वे कुछ नहीं चाहते, उन्हें सब कुछ दिया जाता है (श्लोक 34-38)।
7. भय स्वयं ब्रह्माण्डीय व्यवस्था का एक रूप दिखाया गया है — तथा केवल भगवान् ही उससे परे खड़े हैं। वायु, सूर्य, वर्षा, अग्नि तथा मृत्यु — सभी को भगवान् के “भय से” कार्य करते हुए बताया गया है, जबकि उनके अपने चरण “हर प्रकार के भय से रहित” रहते हैं, जिससे उनके प्रति भक्ति ही वह एकमात्र मार्ग बनती है जो आत्मा को भय से पूर्णतः परे ले जाता है (श्लोक 41-43)।

एक भक्तिपूर्ण चिन्तन

इस अध्याय के आरम्भ होने की रीति में कुछ गहराई से आश्चर्य करने वाला है: पहले से बुद्धिमान्, पहले से संयत, पहले से हर सन्देह से मुक्त आई हुई किसी माता के साथ नहीं, अपितु एक ऐसी माता की सरल स्वीकारोक्ति के साथ कि वह अपनी ही इन्द्रियों की लालसाओं से “पूर्णतः रुग्ण” है तथा अपने ही प्रयास से अज्ञान में गिर पड़ी है। भगवान् उनसे पहले शिक्षा के योग्य बनने की माँग नहीं करते। वे मात्र मुस्कुराते हैं, और आरम्भ करते हैं। यह, सम्भवतः, अध्याय की सबसे शान्त तथा सर्वाधिक सान्त्वनादायक शिक्षा है: कि इस ज्ञान को प्राप्त करने की योग्यता पूर्णता नहीं, अपितु ईमानदारी है — बिना किसी दिखावे के यह कहने की इच्छाशक्ति कि व्यक्ति उस वस्तु की लालसा रखता है जो इन्द्रियाँ प्रदान नहीं कर सकती। इस एक ईमानदार स्वीकृति से योग पर, सन्तों की संगति पर, तथा अन्ततः एक ऐसी भक्ति पर सम्पूर्ण प्रवचन प्रवाहित होता है जो अपने लिए कुछ नहीं माँगती, यहाँ तक कि उस मुक्ति को भी नहीं जो वह फिर भी लाती है।

दैनिक भाक्ते-अभ्यास

आज, अपना कोई अधिक सुसज्जित आरम्भिक बिन्दु खोजने के स्थान पर देवहूति के उदाहरण पर विचार करें। ईमानदारी से तथा बिना किसी बहाने के, उस लालसा या आसक्ति को स्मरण में लाएँ जो वर्तमान में आपको उसी प्रकार थका देती है जैसे इन्द्रिय-तृप्ति ने उन्हें थका दिया था — तथा केवल इच्छाशक्ति के माध्यम से स्वयं को उससे तर्क द्वारा बाहर निकालने का प्रयास करने के स्थान पर, अध्याय के वास्तविक उपाय पर विचार करें: उन लोगों की संगति खोजें, चाहे संक्षिप्त ही सही, जिनके अपने हृदय पहले से भगवान् की ओर मुड़े हुए हैं, क्योंकि यह अध्याय हमें बताता है कि ऐसी ही संगति “मुक्ति के लिए खुला द्वार” बन जाती है। फिर कुछ मिनट शान्त बैठें तथा धीरे से दोहराएँ: “ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।” इसे ठीक उसी निष्काम भक्ति का अभ्यास बनने दें जिसका यह अध्याय वर्णन करता है — अपने लिए कुछ प्राप्त करने के लिए नहीं, यहाँ तक कि मन की शान्ति के लिए भी नहीं, अपितु केवल इसलिए क्योंकि एक अखण्ड हृदय का स्वाभाविक झुकाव, भगवान् की ओर मुड़ा हुआ, और कुछ नहीं माँगता।

निष्कर्ष

तृतीय स्कन्ध का पच्चीसवाँ प्रवचन प्रसिद्ध कपिल-गीता का आरम्भ करता है: कर्दम के वन-गमन के पश्चात्, भगवान् कपिल केवल अपनी माता को प्रसन्न करने हेतु बिन्दुसरोवर पर रुकते हैं, और वे ही — निःसंकोच ईमानदारी के साथ अपनी आध्यात्मिक थकान स्वीकार करते हुए — उनसे असाधारण गहराई का एक प्रवचन खींच लाती हैं। हर्ष तथा शोक से परे चिन्तन-रूप योग की प्रकृति से आरम्भ करते हुए, सन्तों की परिवर्तनकारी संगति से होते हुए, तथा अन्ततः निष्काम भक्ति की उस परिभाषा तक पहुँचते हुए जिसे मुक्ति से भी श्रेष्ठ घोषित किया गया है, यह अध्याय आध्यात्मिक मार्ग की सम्पूर्ण संरचना को एक ही उज्ज्वल दावे के इर्द-गिर्द पुनर्संयोजित करता है: कि भक्ति द्वारा भगवान् में स्थिरतापूर्वक स्थिर किया गया मन, अन्य कुछ न चाहते हुए, यहाँ तक कि उनमें विलय भी नहीं, ही परम कल्याण का आरम्भ तथा सम्पूर्णता दोनों है। आगे आने वाले अध्याय इस प्रवचन को अधिक विस्तृत दार्शनिक विवरण में जारी रखेंगे — किन्तु इसका हृदय, इस अध्याय के अपने ही शीर्षक में प्रतिज्ञात “भक्ति की महिमा,” पहले ही पूर्ण रूप से घोषित किया जा चुका है।

श्रीमद्भागवत की दिव्य ज्ञान-ज्योति हमारे हृदयों में शुद्ध भक्ति का जागरण करे।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।

जय श्री माधव।

सन्दर्भ तथा आभार

- मूल संस्करण: गीता प्रेस, *श्रीमद्भागवत महापुराण* (अंग्रेज़ी, सम्पूर्ण), तृतीय स्कन्ध, पच्चीसवाँ प्रवचन, पृष्ठ 247–251।
- शृंखला: श्रीमद्भागवतम् विज़डम • विश्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट।
- पण्डित डॉ. श्री काशीनाथ मिश्र के आध्यात्मिक मार्गदर्शन तथा अनुशंसा का अनुसरण करते हुए प्रस्तुत।

यह लेखक के अपने शब्दों में एक मौलिक, निष्ठावान् पुनर्कथन है, जिसमें संक्षिप्त उद्धृत श्लोक देवनागरी तथा लिप्यन्तरण में दर्शाए गए हैं तथा उनके अर्थ सारांश के रूप में दिए गए हैं। यह किसी एक प्रकाशक के निरन्तर अनुवाद या टीका की प्रतिलिपि नहीं है। किसी भी प्रकाशक के साथ कोई सम्बद्धता या समर्थन निहित नहीं है।

॥ हरि ॐ तत्सत् ॥

जय श्री माधव

ऑनलाइन पढ़ें: kalkiabatara.org/hi/blog-srimad-bhagavatam-skandh-3-adhyay-25-bhakti-ki-mahima.html

श्रीमद्भागवतम् विज्ञानम् • कल्कि अवतार इंटरनेशनल • बिस्व सनातन धर्म सेवा ट्रस्ट

